जैनागम साहित्य में स्तूप*

सागरमल जैन

जैनागमों में स्तूप एवं स्तूप-मह का सर्वप्रथम उल्लेख हमें आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध (आयारचूला) के तृतीय एवं चतुर्थ अध्ययनों में मिलता है[1]। आचारांग के पश्चात् अंग आगमों में स्थानांग[2] और प्रश्नव्याकरण[3] में; उपांग साहित्य में जीवाभिगम[4], जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति;[5] पुनः व्याख्यासाहित्य में हमें आवश्यकनियुंक्ति[6], आवश्यकचूर्णि[7], व्यवहारचूर्णि तथा आचारांग,

* 'बौद्ध स्तूप' पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी (प्रा०भा०सं० एवं पु० विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) में पठित निबन्ध।

१(क). से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे·····रुक्खं वा चेइय-कडं, थूभं वा चेइयकडं·····णो·····णिज्झाएज्जा।

—आचारांग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध-आयारचूला), ३।४७।

(ख). से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहा वेगइयाइं रूवाइं·····रुक्खं वा चेइय-कडं·····णो·····सुकडे ति वा, सुट्ठुकडे ति वा, "साहुकडे ति वा, कल्लाणे ति वा"।

—वही, ४।२१।

(ग). से भिक्खू वा भिक्खुणी वा·····थूभ-महेसु वा, चेतिय-महेसु वा·····तहप्पगारं असणं व पाणं वा·····णो पडिगाहेज्जा।

— वही, १।२४।

२. ·····तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि-चत्तारि चेइयथूभा पण्णत्ता।

—स्थानांग, ४।३३९।

३(क). चिति-वेदि-खातिय-आराम-विहार-थूभ·····य अट्ठाए पुढविं हिंसंति मंदबुद्धिया।

—प्रश्नव्याकरण, १।१४।

(ख). और भी देखें—प्रश्नव्याकरण, ४।४।

४. तहेव महिंदज्झया चेतियरुक्खो चेतियथूभे पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जिणपडिमा।

—जीवाभिगम, ३।२।१४२।

५. ·····खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ तित्थगरचिइगं जावअणगारचिइगं च खीरोदगेणं णिव्वावेह, तए णं ते मेहकुमारा देवा तित्थगरचिइगं जाव णिव्वावेंति, तए णं से सक्के देविंदे देवराया भगवओ तित्थगरस्स उवरिल्लं दाहिणं सकहं गेण्हइ·····तए णं से सक्के वयासी सव्वरयणामूए महइमहालए तओ चेइअथूभे करेह।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २।३३।

६. निव्वाणं चिइगाई जिणस्स इक्खाग सेसयाणं च।
सकहा थूभ जिणहरे जायग तेणाहिअग्गित्ति॥ —आवश्यक निर्युक्ति, ४५।

७(क). तएणं से सक्के बहवे भवणपति जाव वेमाणिया एवं वयासीखिप्पामेव भो तओ चेइअ-थूभे करेह।

—आवश्यक चूर्णि, ऋषभनिर्वाण प्रकरण, पृ० २२३।

(ख). थूभाणं एगं तित्थगरस्स व सेसाणं एगूणस्स भाउय सयस्स।

—आवश्यक चूर्णि, अष्टपद चैत्य प्रकरण, पृ० २२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांग आदि आगमों की टीकाओं में स्तूप, चैत्यस्तूप एवं स्तूपमह का उल्लेख मिलता है[1]। आचारांग में स्वतन्त्र रूप से स्तूप शब्द का प्रयोग न होकर 'चैत्यकृत स्तूप' (थूभं, वा चेइयकडं)—इस रूप में प्रयोग हुआ है। यहाँ चेइयकडं शब्द के अर्थ को स्पष्ट कर लेना होगा। चेइयकडं शब्द भी दो शब्दों के योग से बना है—चेइय + कडं। प्रो० ढाकी[2] का कहना है कि कडं शब्द प्राकृत कूड या संस्कृत कूट का सूचक है, जिसका अर्थ होता है—ढेर (Heap), विशेष रूप से छत्राकार आकृति का ढेर। इस प्रकार वे "चेइयकडं" का अर्थ करते हैं—कूटाकार या छत्राकार चैत्य तथा थूभ को इसका पर्यायवाची मानते हैं। किन्तु मेरी दृष्टि में 'चेइयकडं' शब्द थूभ (स्तूप) का विशेषण है, पर्यायवाची नहीं। चेइयकडं थूभ (चैत्यीकृत स्तूप) का तात्पर्य है—चिता या शारीरिक अवशेषों पर निर्मित स्तूप अथवा चिता या शारीरिक अवशेषों से सम्बन्धित। सम्भवतः वे स्तूप जो चिता-स्थल पर बनाये जाते थे अथवा जिनमें किसी व्यक्ति के शारीरिक अवशेष रख दिये जाते थे, चैत्यीकृत स्तूप कहलाते थे। यहाँ कडं शब्द कूट का वाचक नहीं अपितु कृत का वाचक है। भगवती में कडं शब्द कृत का वाचक है[3]। पुनः कडं का कूट करने पर 'रुक्खं वा चेइयकडं' का ठीक अर्थ नही बैठेगा। "रुक्खं वा चेइयकडं" का अर्थ है—चिता-स्थल या अस्थि आदि के ऊपर रोपा गया वृक्ष। चेइयकडं का अर्थ पूजनीय भी किया जा सकता है। प्रो० उमाकांत शाह[4] ने यह अर्थ किया भी है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह परवर्ती अर्थ-विकास का परिणाम है। अतः जैन साहित्य में स्तूप शब्द के अर्थ-विकास को समझने के लिए चैत्य शब्द के अर्थ-विकास को समझना होगा। संस्कृत कोशों में चैत्य शब्द के पत्थरों का ढेर, स्मारक, समाधि-प्रस्तर, यज्ञमण्डल, धार्मिक पूजा का स्थान, वेदी, देवमूर्ति स्थापित करने का स्थान, देवालय, बौद्ध और जैन मन्दिर आदि अनेक अर्थ दिये गये हैं[5]। किन्तु ये विभिन्न अर्थ चैत्य शब्द के अर्थ-विकास की प्रक्रिया के परिणाम हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति में श्मशान-सीमा में स्थित पुण्य स्थान के रूप में भी चैत्य शब्द का उल्लेख

१(क). एमेव य साहूणं, वागरणनिमित्तच्छन्दकहमादी।
बिइयं गिलाणतो मे, अद्धाणे चेव थूभे य॥

(ख). महुरा खमगा य, वणदेवय आउट्ट आणविज्जत्ति।
किं मम असंजतीए, अप्पत्तिय होहिती कज्जं॥
थूभ वि उ घण भिच्छू विवाय छम्मास संघो को सत्तो।
खमगुस्सग्गा कंपण खिंसण सुक्का कय पडागा॥

—व्यवहार चूर्णि, पंचम उद्देशक, २६, २७, २८।

२. प्रो० मधुसूदन ढाकी से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर उनका यह मत प्रस्तुत किया गया है।

३. "कडमाण कडे"—भगवती सूत्र, १।१।१।

४. "In both the above-mentioned cases, namely, cetita-thūbha and the cetita-rukkha, the sense of a funeral relic is not fully warranted."

—Studies in Jain Art, U. P. Shah, P. 53.

५. संस्कृत हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे, पृष्ठ ३२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है।[1] प्राचीन जैनागमों में भी चिता-स्थल पर निर्मित स्मारक को चैत्य कहा गया है। किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के चितास्थल पर उनकी स्मृति हेतु चबूतरा बना दिया जाता था, जो चैत्य कहलाता था। कभी-कभी चबूतरे के साथ-साथ वहाँ वृक्षारोपण कर दिया जाता था, जिसे चैत्यवृक्ष कहा जाता था। यदि यह स्मृति-चिह्न छत्राकार होता था, तो यह चैत्य-स्तूप कहलाता था। वाचस्पत्यम् में मुखरहित छत्राकार के यक्षायतनों के लिए चैत्य शब्द का भी उल्लेख है[2]। सम्भवतः इस स्मृति-चिह्न में मृतात्मा (व्यन्तर) का निवास मानकर पूजा जाता था। इस प्रकार विशिष्ट मृत व्यक्ति के स्मारक / स्मृति-चिह्न पूजा-स्थलों के रूप में परिवर्तित हो गये और पूजनीय माने जाने लगे। पहले जहाँ व्यक्ति के शव को जलाया जाता होगा, वहाँ चैत्यवृक्ष और चैत्यस्तूप बनते होंगे। आगे चलकर व्यक्ति के किसी शारीरिक अवशेष अर्थात् अस्थि, राख आदि पर चैत्य या स्तूप बनाये जाने लगे। फिर मात्र उन्हें पूजने के लिए यत्र-तत्र उनके नाम पर चैत्य या स्तूप बने। मूर्तिकला का विकास होने पर चैत्य यक्षायतन और सिद्धायतन अर्थात् यक्ष-मन्दिर या जिन-मन्दिर के रूप में विकसित हुए। ईसा की छठी शताब्दी तक जैन साहित्य में चैत्य शब्द जिन-मन्दिर के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा था और चैत्यालय, चैत्यगृह आदि जिन-मन्दिर के पर्यायवाची माने जाने लगे।

किन्तु जहाँ तक आचारांग में प्रयुक्त चैत्यकृत-स्तूप के अर्थ का प्रश्न है, उसमें उसका अर्थ है—किसी की स्मृति में उसके चिता-स्थल पर अथवा उसके शारीरिक अवशेषों पर निर्मित मिट्टी, ईंटों या पत्थरों की छत्राकार आकृति। प्रारम्भ में स्तूप किसी के चिता-स्थल अथवा अस्थि आदि शारीरिक अवशेषों पर निर्मित ईंट या पत्थरों की छत्राकार आकृति होता था। चैत्य-स्तूप के साथ-साथ चैत्य-वृक्षों का भी हमें आचारांग में उल्लेख मिलता है। प्रथम तो किसी व्यक्ति के दाह-स्थल या समाधि-स्थल पर उसकी स्मृति में वृक्षारोपण कर दिया जाता होगा और वही वृक्ष चैत्यवृक्ष कहलाता होगा। यद्यपि आगे चलकर जैन परम्परा में वह वृक्ष भी चैत्यवृक्ष कहलाने लगा, जिसके नीचे किसी तीर्थंकर को केवल ज्ञान उत्पन्न होता था। क्रमशः इन चैत्य-वृक्षों एवं चैत्य-स्तूपों की श्रद्धावान् सामान्यजनों के द्वारा पूजा की जाने लगी। आचारांग में जिन चैत्य-स्तूपों का उल्लेख है, वे चैत्य-स्तूप जैन परम्परा या जैनधर्म से सम्बन्धित हैं—ऐसा कहना कठिन है, क्योंकि उसमें आकार, तोरण, तलगृह, प्रासाद, वृक्षगृह, पर्वत आदि की चर्चा के सन्दर्भ में ही चैत्य-वृक्ष और चैत्य-स्तूपों का उल्लेख हुआ है। साथ ही जैनमुनि को स्तूप आदि को उचक-उचक कर देखने तथा स्तूपमह अर्थात् स्तूप-पूजा के महोत्सवों एवं मेलों में जाने का निषेध किया गया है।[3]

---

१. नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः।
सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम् ॥ १५१ ॥
चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये।
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षे च विश्रुते ॥ २२८ ॥ —याज्ञवल्क्यस्मृति, व्यवहाराध्याय।

२. वाचस्पत्यम्, पृष्ठ २९६६।

३(अ). आचारांग (द्वितीय-श्रुतस्कन्ध-आयारचूला) १।२४; ३।४७; ४।२१ (इनके मूलपाठों के लिए देखें इसी लेख का सन्दर्भ क्रमांक १)।

(ब). से भिक्खू वा भिक्खुणी वा····मडयथूभियासु वा, मडयचेइएसु वा·····णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा। —वही, १०।१३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मरणीय है कि यदि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकाल तक भी जैन स्तूप होते तो ऐसा सामान्य निषेध तो नहीं ही किया जाता। मात्र यह कहा जाता कि अन्य तीर्थिकों के स्तूप एवं स्तूप-मह में नहीं जाना चाहिए। इससे यही ज्ञात होता है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचना-काल तक जैनेतर परम्पराओं में सामान्य रूप से स्तूप निर्मित होने लगे थे। सम्भवतः आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का रचनाकाल ईसा पूर्व की द्वितीय या तृतीय शताब्दी रहा होगा। क्योंकि इसके बाद मथुरा में जैन स्तूप मिलते हैं। अंग साहित्य में पुनः हमें स्थानांगसूत्र में नन्दीश्वर द्वीप के वर्णन प्रसंग में चैत्यस्तूप और चैत्यवृक्ष का उल्लेख मिलता है। मथुरा में, आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अनुसार, महावीर के गर्भापहरण का चित्रण भी मिलता है, अतः मथुरा का स्तूप आचारांग का परवर्ती है। उसमें वर्णित चैत्यस्तूप और चैत्यवृक्ष जैन परम्परा से सम्बन्धित हैं, साथ ही उस समय तक न केवल चैत्यस्तूप बनने लगे थे, अपितु उस पर जिनमूर्तियों की स्थापना होने लग गयी थी। स्थानांगसूत्र में जैन चैत्यस्तूपों का निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—'नन्दीश्वरद्वीप के ठीक मध्य में चारों दिशाओं में चार अञ्जन पर्वत हैं। वे अञ्जन पर्वत नीचे दस हजार योजन विस्तृत हैं, किन्तु क्रमशः उनका ऊपरी भाग एक हजार योजन चौड़ा है। उन अञ्जन पर्वतों के ऊपर अत्यन्त समतल और रमणीय भूमि-भाग है। उस सम-भूमि-भाग के मध्य में चारों ही अञ्जन पर्वतों पर चार सिद्धायतन अर्थात् जिन-मन्दिर हैं। प्रत्येक जिन-मन्दिर की चारों दिशाओं में चार द्वार हैं। इन चारों द्वारों के आगे चार मुखमण्डप हैं। उन मुखमण्डपों के आगे चार प्रेक्षागृह या रंगशाला मण्डप हैं। पुनः उन प्रेक्षागृहों के आगे मणिपीठिकाएँ हैं। उन मणिपीठिकाओं पर चैत्यस्तूप हैं। प्रत्येक चैत्यस्तूप पर चारों दिशाओं में चार मणिपीठिकाएँ हैं और उन चार मणिपीठिकाओं पर चार जिन-प्रतिमाएँ हैं। वे सब रत्नमय, सपर्यंकासन (पद्मासन) की मुद्रा में अवस्थित हैं। पुनः चैत्यस्तूपों के आगे चैत्यवृक्ष हैं। उन चैत्यवृक्षों के आगे मणिपीठिकाओं पर महेन्द्रध्वज हैं। उन महेन्द्रध्वजों के आगे पुष्करिणियाँ हैं और उन पुष्करिणियों के आगे वनखण्ड हैं।[1] इस सब वर्णन से ऐसा लगता है कि स्थानांग के रचनाकाल तक सुव्यवस्थित रूप से मन्दिरों के निर्माण की कला का भी विकास हो चुका था और उन मन्दिरों में चैत्य-स्तूप बनाये जाते थे और उन चैत्य-स्तूपों पर पीठिकाएँ स्थापित करके जिन-प्रतिमाएँ भी स्थापित की गई थीं। परवर्ती काल में बौद्ध परम्परा में भी हमें स्तूपों की चारों दिशाओं में बुद्ध-प्रतिमाएँ होने के उल्लेख मिलते हैं।

---

१. तेसि णं अंजणगपव्वयाणं उवरिं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता। तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमि-भागाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि सिद्धायतणा पण्णत्ता—

तेसि णं दाराणं पुरओ चत्तारि मुहमंडवा पण्णत्ता।
तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ चत्तारि पेच्छाघरमंडवा पण्णत्ता।
तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ।
तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि-चत्तारि चेइयथूभा पण्णत्ता।
तेसि णं चेइयथूभाणं उवरिं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ।
तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि जिणपडिमाओ सव्वरयणामईओ संपलियंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहाओ चिट्ठंति, तं जहा—रिसभा, वद्धमाणा, चंदाणणा, वारिसेणा।

—स्थानांग, ४।३३९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांग एक संग्रह ग्रन्थ है और उनमें ईसा पूर्व से लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक की सामग्री संकलित है। प्रस्तुत सन्दर्भ किस काल का है यह कहना तो कठिन है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी का होगा, क्योंकि तब तक जिन-मन्दिर और जिन-स्तूप बनने लगे थे। उसमें वर्णित स्तूप जैन परम्परा से सम्बन्धित हैं। यद्यपि यह विचारणीय है कि मथुरा के एक अपवाद को छोड़कर हमें किसी भी जैन-स्तूप के पुरातात्त्विक अवशेष नहीं मिले हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय जैन-स्तूपों के साहित्यिक उल्लेख भी नगण्य हैं।

समवायांग एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हमें चैत्यस्तूप के स्थान पर चैत्यस्तम्भ का उल्लेख मिलता है, साथ ही इन स्तम्भों में जिन-अस्थियों को रखे जाने का भी उल्लेख है।[1] अतः चैत्य-स्तम्भ चैत्य-स्तूप का ही एक विकसित रूप है। जैन परम्परा में चैत्यस्तूपों की अपेक्षा चैत्य-स्तम्भ बने, जो आगे चलकर मानस्तम्भ के रूप में बदल गये। आदिपुराण में मानस्तम्भ का स्पष्ट उल्लेख है।[2] जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा में आज भी मन्दिरों के आगे मानस्तम्भ बनाने का प्रचलन है। शेष अंग-आगमों में भगवती सूत्र, ज्ञाताधर्मकथा और उपासकदशांग में हमें चैत्य-स्तूपों के उल्लेख तो उपलब्ध नहीं होते हैं, किन्तु अरिहंत चैत्य का उल्लेख अवश्य मिलता है।[3] यद्यपि ज्ञाताधर्मकथा में स्तूपिका (थूभिआ) का उल्लेख अवश्य है।[4] इतना निश्चित है कि इन आगमों के रचनाकाल तक जैन परम्परा में जिन-प्रतिमाओं और जिन-मन्दिरों का विकास हो चुका था। पुनः दसवें अंग-आगम प्रश्नव्याकरण में स्तूप शब्द का उल्लेख मिलता है, किन्तु उसमें उल्लिखित स्तूप जैन परम्परा का स्तूप नहीं है। सम्भवतः यहाँ ही हमें स्वतन्त्र रूप से स्तूप शब्द मिलता है, क्योंकि इसके पूर्व सर्वत्र चैत्य-स्तूप (चेइय-थूभ) शब्द का प्रयोग मिलता है। ज्ञातव्य है कि प्रश्नव्याकरण का वर्तमान में उपलब्ध संस्करण आगमों के लेखनकाल के बाद सम्भवतः ७वीं शताब्दी की रचना है। जैनधर्म में परवर्तीकाल में स्तूप-परम्परा पुनः लुप्त होने लगी थी। जैनधर्म में न तो प्रारम्भ में स्तूप-निर्माण और स्तूप-पूजा की परम्परा थी और न परवर्ती काल में ही वह जीवित रही। मुझे तो ऐसा लगता है कि ईसा पूर्व की द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की

---

१. सोहम्मे कप्पे सुहम्माए सभाए माणवए चेइयक्खंभे हेट्ठा उवरिं च अद्धतेरस-अद्धतेरस जोयणाणि वज्जेत्ता मज्झे पणतीस जोयणेसु वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु जिण-सकहाओ पण्णत्ताओ।

—समवायांग, ३५।५।

२. मानस्तम्भमहाचैत्यद्रुमसिद्धार्थपादपान् ।
प्रेक्षमाणो व्यतीयाय स्तूपांश्चार्चितपूजितान् ॥

—आदिपुराण, ४१।२०।

३(अ). णणत्थ अरिहंस वा अरिहंत चेइयाणि वा अणगारे वा भावियप्पणो णीसाए उड्ढं उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो।

—भगवती सूत्र, ३।२।

(ब). अरहंतचेइयाइं वंदित्तए वा नमंसित्तए वा।

—उपासकदसांग, १।४५।

४(अ). उज्जलमणिकणगरयणथूभिय····।
(ब)मणिकणथूभियाए।

—ज्ञाताधर्मकथा, १।१८; १।८९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँचवीं शताब्दी तक बौद्ध-परम्परा के प्रभाव के कारण ही जैन परम्परा में स्तूप-निर्माण और स्तूप-पूजा की अवधारणा विकसित हुई होगी, जो बौद्धों के पतन काल अर्थात् सातवीं, आठवीं शताब्दी के पश्चात् पुनः लुप्त हो गई, क्योंकि हमें आठवीं शताब्दी के पश्चात् की जैन रचनाओं में, केवल उन आगम ग्रन्थों की टीकाओं तथा मथुरा एवं वैशाली के ऐतिहासिक विवरण देने वाले ग्रन्थों को छोड़कर, जिनमें स्तूप शब्द आया है, कहीं भी जिन-स्तूपों का उल्लेख नहीं मिलता है।

१४वीं शताब्दी तक के जैन साहित्य में मथुरा में जैन स्तूपों के अस्तित्व के संकेत उपलब्ध हैं। उपाङ्ग साहित्य में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हमें तीर्थंकर, गणधर और विशिष्ट मुनियों की चिताओं पर चैत्यस्तूप बनाने के उल्लेख भी मिलते हैं। ऐसे उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति में भी उपलब्ध हैं[1]। यद्यपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और आवश्यकनिर्युक्ति निश्चित ही आगमों के लेखनकाल अर्थात् ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व की रचना है। इस सबसे हमारी उस मान्यता की पुष्टि होती है, जिसके अनुसार ईसा पूर्व की द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम पाँच शताब्दियों में ही जैन परम्परा में स्तूप-निर्माण और स्तूप-पूजा की परम्परा रही और बाद में वह क्रमशः विलुप्त होती गई। यद्यपि चैत्य-स्तम्भों एवं चरण-चिह्नों के निर्माण की परम्परा वर्तमान युग तक जीवित चली आ रही है। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि चैत्य-स्तूपों के निर्माण और उनकी पूजा की परम्परा जैनों की अपनी मौलिक परम्परा नहीं थी, अपितु वह लौकिक परम्परा का प्रभाव था। वस्तुतः स्तूप-निर्माण और स्तूप-पूजा की परम्परा महावीर और बुद्ध से पूर्ववर्ती एक लोकपरम्परा रही है, जिसका प्रभाव जैन और बौद्ध दोनों पर पड़ा। सम्भवतः पहले बौद्धों ने उसे अपनाया और बाद में जैनों ने। जैनागम साहित्य में मुझे किसी भी ऐतिहासिक जैन स्तूप का उल्लेख देखने में नहीं आया। जैन साहित्य में जिन स्तूपों-चैत्यों का उल्लेख है, उनमें व्यवहारचूर्णि में उल्लिखित मथुरा एवं आवश्यकचूर्णि में उल्लिखित वैशाली के स्तूप को छोड़कर देव-लोक (स्वर्ग), नन्दीश्वरद्वीप एवं अष्टापद (कैलाशपर्वत) आदि पर निर्मित स्तूपों के ही उल्लेख हैं, जिनकी ऐतिहासिकता संदिग्ध ही है। मथुरा के ऐतिहासिक स्तूप का प्राचीनतम उल्लेख व्यवहार-चूर्णि में और व्यवहारसूत्र की मलयगिरि की टीका[2] में मिलता है। इसके सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य में अन्यत्र भी उल्लेख है। आवश्यकचूर्णि में वैशाली में मुनिसुव्रतस्वामी के स्तूप का उल्लेख है[3]। इस समग्र चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जैन साहित्य में जो स्तूप-सम्बन्धी विवरण उपलब्ध हैं, उनमें ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा और वैशाली के प्रसंग ही महत्वपूर्ण हैं। उनमें भी वैशाली के सम्बन्ध में कोई पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं मिले हैं। जैन धर्म में स्तूप-निर्माण और स्तूप-पूजा के पुरातात्त्विक प्रमाण अभी तक तो केवल मथुरा से उपलब्ध हुए

१(अ). महइमहालए तओ चेइअथूभे करेह, एगं भगवओ तित्थगरस्स चिइगाए, एगं गणहरस्स, एगं अवसेसाणं अणगाराणं चिइगाए।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २।३३, पृ० १५७-१५८।

(ब). आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ४३५।

(मूल के लिए देखिए इसी लेख का सन्दर्भ क्रमांक ६)।

२. देखें—इसी लेख का सन्दर्भ क्रमांक ८।

३. वेसालिए णगरीए णगरणाभीए मुणिसुव्वय सामिस्स थूभो।

—आवश्यकचूर्णि (पारिणामिक बुद्धि प्रकरण), पृ० ५६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। वैशाली के स्तूप को मुनिसुव्रत का स्तूप कहा गया है। यद्यपि मथुरा के स्तूप को शिलालेख में बोदव-स्तूप कहा गया है, कहीं वह बौद्ध तो न हो ? दूसरे उसके पास से उपलब्ध पाद-पीठ पर अर्हत् नन्द्यावर्त का उल्लेख है[1], किन्तु प्रो० के० डी० बाजपेयी ने उसे मुनिसुव्रत पढ़ा है, कहीं ऐसा तो नहीं हो कि आवश्यकचूर्णीकार ने भ्रमवश उसे वैशाली में स्थित कह दिया हो[2]।

पुरातत्त्व की दृष्टि से मथुरा में न केवल जैन स्तूप के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, अपितु अनेक आयागपटों पर भी स्तूपों का अंकन और स्तूप-पूजा के दृश्य उपलब्ध होते हैं। एक शिलाखण्ड में तो आसपास जिन-प्रतिमाओं और बीच में स्तूप का अंकन है। एक अन्य आयागपट पर किम्पुरुषों को स्तूप की पूजा करते हुए दिखाया गया है। मथुरा से उपलब्ध स्तूप-अंकन से युक्त अनेक आयाग-पटों पर शिलालेख भी हैं। इस सबसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में जैनों में स्तूप-निर्माण और स्तूप-पूजा की परम्परा रही है। स्तूप के आसपास जिन-प्रतिमा से युक्त शिलाखण्ड इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है, किन्तु मथुरा में जो भी स्तूप और स्तूपों के अंकन सहित आयागपट मिले हैं, वे सभी ईसा पूर्वसे लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक के ही हैं। ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के बाद से न तो स्तूप मिलते हैं और न स्तूपों के अंकन से युक्त आयागपट ही। इस सम्बन्ध में Jain Art and Architecture, Chapter 6th and 10 th. विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं[3]। इन पुरातात्त्विक प्रमाणों से भी मेरी इस मान्यता की पुष्टि होती है कि ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी के बाद जैनों में स्तूप-पूजा की प्रणाली लुप्त होने लगी थी।

व्यवहारचूर्णि और व्यवहारसूत्र की मलयगिरि टीका में मथुरा के देवनिर्मित स्तूप के निर्माण की कथा एवं उसके स्वामित्व को लेकर जैनों और बौद्धों के विवाद की स्पष्ट सूचना

१. An inscription (Lüders, List No. 47) dated 79 (A.D. 157) or 49 (A.D. 127), on the Pedestal of a missing image mentions the installation of an image of Arhat Nandiāvarta at the so-called Vodva stūpa built by the gods (deva-nirmita).

—Jaina Art and Architecture, A. Ghosh, vol. I. P. 53.

२. Śri Mahāvira commemoration, vol. I. Agra, P. 189-190.

६. मथुरायां नगर्यां कोऽपि क्षपक आतापयति, यस्यातापनां दृष्टवा देवता आदृता तमागत्य वन्दित्वा ब्रूते, यन्मया कर्तव्यं तन्ममाज्ञापयेद्भवानिति। एवमुक्ते सा क्षपकेण भण्यते, किं मम कार्यमसंयत्या भविष्यति, ततस्तस्या देवताया अप्रीतिकमभूत्। अप्रीतिवत्या च तयोक्तमवश्यं तव मया कार्यं भविष्यति, ततो देवताया सर्वरत्नमयः स्तूपो निर्मितः, तत्र भिक्षवो रक्तपटा उपस्थिताः अयमस्मदीयः स्तूपः, तैः समं सङ्घस्य षण्मासान् विवादो जातः, ततः सङ्घो ब्रूते—को नामात्रार्थे शक्तः, केनापि कथितं यथामुकः क्षपकः, ततः सङ्घेन स भण्यते—क्षपक ! कायोत्सर्गेण देवतामाकम्पय, ततः क्षपकस्य कायोत्सर्गकरणं देवताया आकम्पनम् सा आगता ब्रूते—संदिशत किं करोमि, क्षपकेण भणिता—तथा कुरुत यथा सङ्घस्य जयो भवति, ततो देवताया क्षपकस्य खिंसना कृता, यथा एतन्मया असंयत्या अपि कार्यं जातं एवं खिंसित्वा सा ब्रूते—यूय राज्ञः समीपं गत्वा ब्रूत, यदि रक्तपटानां स्तूप ततः कल्ये रक्ता पताका दृश्यतां, अथास्माकं तर्हि शुक्ला पताका, राज्ञा प्रतिपन्नमेवं भवतु, ततो राज्ञा प्रत्ययिकपुरुषैः स्तूपो रक्षापितः रात्रौ देवताया शुक्ला पताका कृता, प्रभाते दृष्टा स्तूपे शुक्ला पताका, जितं सङ्घेन।

—व्यवहारचूर्णि, मलयगिरिटीका—पञ्चम उद्देशक, पृ० ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलती है। मलयगिरि लिखते हैं कि मथुरा नगरी में कोई क्षपणक जैन मुनि कठिन तपस्या करता था, उसकी तपस्या से प्रभावित हो एक देवी आयी। उसकी वन्दना कर वह बोली कि मेरे योग्य क्या कार्य है? इस पर जैन मुनि ने कहा—असंयति से मेरा क्या कार्य होना? देवी को यह बात बहुत अप्रीतिकर लगी और उसने कहा कि मुझसे तुम्हारा कार्य होगा, तब उसने एक सर्व-रत्नमय स्तूप निर्मित किया। कुछ रक्तपट अर्थात् बौद्ध भिक्षु उपस्थित होकर कहने लगे यह हमारा स्तूप है। छः मास तक यह विवाद चलता रहा। संघ ने विचार किया कि इस कार्य को करने में कौन समर्थ है। किसी ने कहा कि अमुक मुनि(क्षपणक) इस कार्य को करने में समर्थ है। संघ उनके पास गया। क्षपणक से कहा कि कायोत्सर्ग कर देवी को आकम्पित करो अर्थात् बुलाओ। उन्होंने कायोत्सर्ग कर देवी को बुलाया। देवी ने आकर कहा—बताइये मैं क्या करूँ? तब मुनि ने कहा—जिससे संघ की जय हो वैसा करो। देवी ने व्यंग्यपूर्वक कहा—अब मुझ असंयति से भी तुम्हारा कार्य होगा। तुम राजा के पास जाकर कहो कि यदि यह स्तूप बौद्धों का होगा तो इसके शिखर पर रक्त-पताका होगी और यदि यह हमारा अर्थात् जैनों का होगा तो शुक्ल-पताका दिखायी देगी। उस समय राजा के कुछ विश्वासी पुरुषों ने स्तूप पर रक्त-पताका लगवा दी। तब देवी ने रात्रि को उसे श्वेत-पताका कर दिया। प्रातःकाल स्तूप पर शुक्ल-पताका दिखायी देने से जैन संघ विजयी हो गया[1]। मथुरा के देव-निर्मित स्तूप का यह संकेत किंचित् रूपान्तर के साथ दिगम्बर परम्परा में हरिषेण के बृहद्कथाकोश के वैरकुमार के आख्यान में तथा सोमदेवसूरि के यशस्तिलकचम्पू के षष्ठ आश्वास में व्रजकुमार की कथा में मिलती है। पुनः चौदहवीं शताब्दी में जिनप्रभसूरि ने भी विविधतीर्थकल्प के मथुरापुरीकल्प में इसका उल्लेख किया है[2]। सन्दर्भ में बौद्धों से हुए विवाद का भी किञ्चित् रूपान्तर के साथ सभी ने उल्लेख किया है।

इस कथा से तीन स्पष्ट निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम तो उस स्तूप को देव-निर्मित कहने का तात्पर्य यही है कि उसके निर्माता के सम्बन्ध में जैनाचार्यों को स्पष्ट रूप से कुछ ज्ञात नहीं था, दूसरे उसके स्वामित्व को लेकर जैन और बौद्ध संघ में कोई विवाद हुआ था। तीसरे यह कि जैनों में स्तूपपूजा प्रारम्भ हो चुकी थी। यह भी निश्चित है कि परवर्ती साहित्य में उस स्तूप का जैनस्तूप के रूप में ही उल्लेख हुआ है। अतः उस विवाद के पश्चात् यह स्तूप जैनों के अधिकार में रहा—इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है। लेकिन यहाँ मूल प्रश्न यह है कि क्या उस स्तूप का निर्माण मूलतः जैन स्तूप के रूप में हुआ था अथवा वह मूलतः एक बौद्ध परम्परा का स्तूप था और परवर्ती काल में वह जैनों के अधिकार में चला गया?

इसे मूलतः बौद्ध परम्परा का स्तूप होने के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं। सर्वप्रथम तो यह कि जैन परम्परा के आचारांग जैसे प्राचीनतम अंग-आगम साहित्य में जैन स्तूपों के निर्माण और उसकी पूजा के उल्लेख नहीं मिलते हैं, अपितु स्तूपपूजा का निषेध ही है। यद्यपि कुछ परवर्ती आगमों स्थानांग, जीवाभिगम, औपपातिक एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में जैन-परम्परा में स्तूपनिर्माण और स्तूपपूजा के संकेत मिलने लगते हैं, किन्तु ये सब ईसा की प्रथम शताब्दी की या उसके

१. वैरकुमारकथानकम्-बृहत्कथाकोश (हरिषेण) भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४२ ई०, पृ० २२-२७।

२. व्रजकुमारकथा—पृ० २७०, षष्ठ आश्वास।

—यशस्तिलकचम्पू, अनु० व प्रकाशक—सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी।

३. विविधतीर्थकल्प—मथुरापुरीकल्प।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात् की रचनाएँ हैं। दूसरे यदि जैन परम्परा में प्राचीन काल से स्तूप-निर्माण एवं स्तूप-पूजा की पद्धति होती तो फिर मथुरा के अन्यत्र भी कहीं जैन स्तूप उपलब्ध होते, किन्तु मथुरा के अतिरिक्त कहीं भी जैन स्तूपों के पुरातात्त्विक अवशेष उपलब्ध नहीं होते[1]। जैनधर्म के यापनीय-संघ की एक शाखा का नाम पंचस्तूपान्वय था। सम्भव है मथुरा के पंचस्तूपों की उपासना के कारण इसका यह नाम पड़ा हो। मथुरा यापनीय संघ का केन्द्र रहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि जैनों में स्तूपपूजा की पद्धति थी। मथुरा के एक शिलाखण्ड के बीच में स्तूप का अंकन है और उसके आसपास जिन-प्रतिमायें हैं, इससे भी हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि जैनों में कुछ काल तक स्तूप निर्माण और स्तूप-पूजा प्रचलित थी। वैशाली में मुनिसुव्रतस्वामी के स्तूप का साहित्यिक संकेत है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में मथुरा के अतिरिक्त अन्यत्र भी बौद्ध स्तूप और उनके अवशेष मिलते हैं। एक प्रश्न यह भी है यदि जैन धर्म में स्तूप-निर्माण एवं स्तूप-पूजा की परम्परा रही थी तो फिर वह एकदम कैसे विलुप्त हो गयी ?

यह सत्य है कि जहाँ बौद्ध परम्परा में बुद्ध के बाद शताब्दियों तक प्रतीकपूजा के रूप में स्तूप-पूजा प्रचलित रही और बुद्ध की मूर्तियाँ बाद में बनने लगीं। जब कि जैन परम्परा में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से जिन मूर्तियाँ बनने लग गयीं। अतः जैनों में स्तूप बनने की प्रवृत्ति आगे अधिक विकसित नहीं हो सकी।

यह तर्क कि मथुरा का स्तूप मूलतः बौद्ध स्तूप था और परवर्तीकाल में बौद्धों के निर्बल होने से उस पर जैनों ने अधिकार कर लिया, युक्तिसंगत नहीं लगता, क्योंकि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से ही इसके जैन-स्तूप के रूप में उल्लेख मिलने लगते हैं और उस काल तक मथुरा के बौद्ध निर्बल नहीं हुए थे, अपितु शक्तिशाली एवं प्रभावशाली बने हुए थे। पुनः मथुरा से उपलब्ध आयागपटों पर मध्य में जिन-प्रतिमा और उसके आस-पास अष्टमांगलिक चिह्नों के साथ स्तूप का भी अंकन मिलता है। इससे यह पुष्ट हो जाता है कि जैनों में स्तूपनिर्माण और स्तूपपूजा की परम्परा का अस्तित्व रहा है। यापनीय नामक प्रसिद्ध जैन संघ की एक शाखा का नाम भी पंचस्तूपान्वय है। यदि ये प्रमाण नहीं मिलते तो निश्चित ही इसे मूलतः बौद्ध स्तूप स्वीकार किया जा सकता था। मैंने यहाँ पक्ष-विपक्ष की सम्भावनाओं को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, विद्वानों को किसी योग्य निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी इस समग्र अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचा हूँ कि जैन धर्म में स्तूपनिर्माण एवं स्तूपपूजा की पद्धति जैनेतर परम्पराओं से विशेष रूप से बौद्ध परम्परा के प्रभाव से ही विकसित हुई; पुनः वह चरण-चौकी (पगलिया जी), चैत्य-स्तम्भ, मान-स्तम्भ और जिन-मन्दिरों के विकास के साथ धीरे-धीरे विलुप्त हो गई है।

निदेशक, पा० वि० शोध संस्थान, आई. टी. आई. रोड, वाराणसी–५.

१. प्रो० टी० वी० जी० शास्त्री ने गन्तूर जिले के अमरावती से करीब ७ किलोमीटर दूर बड्डुमाण गाँव में ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी (२३६ ई० पू०) का जैनस्तूप खोज निकाला है। यहीं भद्रबाहु के शिष्य गोदास—जिनका नाम कल्पसूत्र पट्टावली में है—के उल्लेख से युक्त शिलालेख भी मिला है।

—दि० जैन महासमिति बुलेटिन, मार्च १९८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org